Chiefdoms of the Vedic times

एंजेल्स के अनुसार राज्य के लक्षण हैं—कर, भूभाग, लोक बल तथा लोक अधिकारी।[2] पारिवारिक संस्थाओं एवं निजी संपत्ति की सुरक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। जब संपत्ति की प्राप्ति और रक्षा के लिए परिवार जैसी संस्था कायम होती है, और ऐसे परिवार उत्पादन के साधनों के बड़े भाग तथा अतिरिक्त पैदावार का अधिकतर हिस्सा हथियाकर अपने आपको वर्ग के रूप में संगठित कर लेते हैं तो वे शक्ति का ऐसा संयंत्र विकसित करते हैं, जिसके द्वारा अपने विशेषाधिकारों को स्थायी और सुरक्षित रख सकें, तथा समाज के संपत्तिहीन एवं साधनहीन वर्गों को दबाकर रख सकें। बुर्जुवा जनतंत्रों अथवा अधिनायक तंत्रों में भी राज्य तथा सरकार के बीच स्पष्ट अंतर किया जाता है। "सरकारें आती और जाती रहती हैं, किंतु राज्य सदा बना रहता है।" दलगत राज, दलगत राजनीति, यहां तक कि व्यक्तिगत नीतियों को सरकार का रूप दिया जाता है, और यह माना जाता है कि वह राज्य के आधारभूत ढांचे अथवा उसके संविधान के अंतर्गत कार्य करती है। किंतु प्राचीन काल में ऐसे सूक्ष्म भेद नहीं किए जाते थे; यहां तक कि लोकप्रिय मान्यता के अनुसार राजा को ही राज्य, समाज तथा सरकार का प्रतीक माना जाता था। आजकल एंजेल्स द्वारा प्रतिपादित राज्य की अवधारणा राजनीतिक वैज्ञानिकों की राज्य की परिभाषा से बहुत कुछ मिलती है। अतः प्राचीन भारत में राज्य-निर्माण की प्रक्रिया को समझने में यह मार्गदर्शक हो सकती है। एंजेल्स के बताए हुए राज्य के लक्षण ऋग्वेद[3] के प्राचीनतम भाग में, जिसकी रचना ईसापूर्व 1500 वर्ष के लगभग पंजाब एवं अफ़गानिस्तान में निर्धारित की जाती है, नहीं पाए जाते हैं। तत्कालीन अर्थव्यवस्था के पशुपालन-प्रधान होने के कारण लोग अर्ध-घुमंतू जीवन व्यतीत करते थे। पशुपालन के लिए उन्होंने टोलियां बनाईं जो आगे चलकर पितरों के वंश में ज्ञाति-आधारित समूह बन गईं। इस प्रकार की टोली का एक नाम गोत्र है। गोत्र का मूल अर्थ है, ऐसा स्थान जहां गौओं को रखा जाता हो। ऐसा प्रतीत होता है कि पशुपालन में संलग्न टोली के लोगों ने आपस में एक प्रकार का नातेदारी का संबंध कायम किया, और इस प्रकार के समूह को गोत्र की संज्ञा दी गई।

ऋग्वेद में व्र, व्रात, व्रज सर्ध और ग्राम[4] जैसे कई शब्द हैं जो टोली अथवा यूथ

के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं । इन शब्दों से पता चलता है कि जीविका के दो महत्त्वपूर्ण साधन थे । एक तो युद्ध था जिसके द्वारा बलपूर्वक भोज्य-सामग्री जुटाई जाती थी । दूसरा पशुपालन था जिससे मांस एवं दूध मिलता था । शिकार एवं भोजन जुटाने वाली क्रियाओं ने युद्ध का रूप भी धारण किया । ऋग्वेद के युग में युद्ध गौओं के लिए लड़े जाते थे । एक मान्यता के अनुसार ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में व्र शब्द का अर्थ है सेना । स्पष्टतः ऐसे झुंड का उदय जीविका के संघर्ष के लिए हुआ, तथा जब इसने स्थायी स्वरूप धारण कर लिया तब व्र को ज्ञाति-समूह माना जाने लगा । इसी प्रकार व्रात शब्द व्रत से निकला है, तथा ऋग्वेद में व्रत उन लोगों के लिए प्रयुक्त किया गया है जो दूध पर जीते थे । ऋग्वेद में व्रत का अर्थ रीति, आचरण, रूढ़ि अथवा ढंग भी हैं । स्पष्ट है कि दूध पर जीने की रीति पशुपालन के बिना संभव नहीं थी । व्रत से व्रात शब्द बना, तथा ऋग्वेद में व्रात का अर्थ है यूथ, टोली, दल, समूह, बहुसंख्या, संगम इत्यादि । अतः प्रतीत होता है कि व्रात के सदस्य पशुचारी थे और इकट्ठे होकर पशुधन के लिए लड़ाई करते थे । कालक्रम में इस प्रकार के झुंडों ने ज्ञाति-आधारित इकाइयों का रूप धारण कर लिया, क्योंकि पुरुषों की पांच जातियों की बात कही जाती है—अर्थात् पंचव्रातों की । पंचव्रात शब्द इसी प्रकार का है जैसे पञ्चजन या पञ्चकृष्टि ।

व्राज शब्द की बात थोड़ी भिन्न है । यह कदाचित् उन पशुपालकों को दर्शाता है जो पशुपालन करते थे तथा कबीलों के आक्रमण से गोधन की रक्षा करते थे । ऋग्वेद में व्राजपति की बात कही गई है जो स्पष्टतः पशुचारी झुंड का सरदार है । किंतु यह ठीक-ठीक पता नहीं चलता है कि व्राज ज्ञाति-समूह के रूप में विकसित हुआ अथवा नहीं । सर्ध शब्द का अर्थ है टोली, समूह, भीड़, जो इसके योद्धा होने के लक्षण को इंगित करता है । ऋग्वेद में इसे मरुतों के दल को इंगित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है जो स्पष्टतः बड़े परिवार के सदस्य थे । इसलिए सर्ध योद्धाओं की टोली के रूप में आरंभ हुआ और अंततः पारिवारिक इकाई के रूप में विकसित हुआ ।

अंत में हम ग्राम शब्द का परीक्षण करेंगे, जिसे सामान्यतः गांव के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है । किंतु आरंभ में इसका अर्थ था लोगों का समूह । ऋग्वेद के एक संदर्भ में ग्राम और कबीले (जन) में अंतर नहीं है । गोधन की खोज में भटकते हुए ग्राम की बात कही गई है । अतः ग्राम पशुपालन एवं युद्ध से भी संबद्ध था । बाद में इसने भी अपनी एक ज्ञाति-आधारित पहचान बना ली । जब ग्राम के सदस्य खेती में लग गए और एक स्थान पर टिककर रहने लगे, तो यह शब्द गांव के अर्थ में रूढ़ हो गया । ऋग्वेद में ग्राम का अर्थ गांव नहीं है । इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि युद्ध, आखेट एवं पशुपालन की आवश्यकताओं के कारण विभिन्न वंशमूलों के लोग एक-दूसरे के संपर्क में आए तथा आगे चलकर जीविकोपार्जन की

सुविधा के लिए ये लोग आपस में नातेदार बन गए और इस प्रकार ज्ञाति-समूहों की स्थापना हुई। नातेदारों की इन छोटी-छोटी बिरादरियों का जीविकोपार्जन तथा संसाधनों एवं लूट के मांल के बंटवारे में बड़ा हाथ रहा होगा। अतः ऋग्वेद से ऐसा संकेत मिलता प्रतीत होता है कि टोलियां या बरादरियां जैसी छोटी टुकड़ियां सबसे पहले संगठित हुईं। प्रत्येक टोली अपने मुखिया के नेतृत्व में कार्य करती थी किंतु यह ज्ञात नहीं है कि इसका आंतरिक ढांचा कैसा था। यदि गण को, जो कि ऐसे लोगों का समूह होता था जिसके सदस्य अनिवार्यतः एक ही कबीले के नहीं होते थे, आरंभिक अवस्था का समूह मान लिया जाए तो आंतरिक ढांचे की कुछ जानकारी हो सकती है। इसका नेता गणपति अथवा राजा होता था जो पशुओं को पकड़ने के कार्य का नेतृत्व करता था। टोली के सभी सदस्य अपना भाग लाकर गण के नेता को समर्पित करते थे।[5] गण के श्रेष्ठ लोग ज्यस्वंत अर्थात् वयोवृद्ध कहलाते थे। किंतु भोजन और पान में बड़े और छोटे समान रूप से सम्मिलित होते थे।[6] इस प्रकार के दल या समूह में जो लोग भोजन जुटाते थे वे उसका उपयोग भी करते थे। जुटानेवाले और खानेवाले का एक ही समूह था; उनके बीच बिचौलिये हिस्सा नहीं मारते थे। टोलीवाली अवस्था का काल-निर्धारण करना संभव नहीं है किंतु ऋग्वेद में इसके अवशेष की झांकी मिलती है। इसे समाज के विकास का प्रथम चरण माना जा सकता है।

विकास के दूसरे चरण का संकेत वंश पर आधारित अधिक व्यापक समूह के उदय में मिलता है जिसे कबीला अथवा जनजाति कहा जाता है। इसका सरदार अपने कबीले के सदस्यों से स्वैच्छिक भेंट तथा विजित कबीलों के सरदारों से संधि उपहार पाता था। दोनों ही स्थितियों में इस भेंट को 'बलि' कहा जाता था। ऋग्वेद कालीन समाज में टोली के संबंधों के अवशेष भले ही रहे हों, किंतु अधिकांशतः वह जनजातीय समाज था। नातेदारी और रिश्तेदारी पर कायम समाज में कबीले को सबसे बड़ी संरचना माना जाता है, किंतु इसे गोत्रों में, गोत्रों को वंशों में तथा वंशों को परिवारों एवं छोटे उपवंशों में विभाजित किया जाता है। इस समय हम इस स्थिति में नहीं हैं कि नातेदारी पर आधारित ऋग्वेद कालीन समाज की इन विभिन्न इकाइयों को पहचान करके प्रत्येक के लिए वैदिक नाम का प्रयोग कर सकें।[7]

जन, विश्, गृह आदि पद ऋग्वेद कालीन समाज का जनजातीय स्वरूप व्यक्त करते हैं। ऋग्वेद में जन शब्द 225 बार, तथा विश् शब्द 171 बार आता है। भरत जन, यदुजन तथा त्रिस्त्सु विश् की चर्चा है। जन शब्द को अनु, तुर्वस, द्रह्यु तथा पुरु इत्यादि पांच जनजातियों से जोड़ा जाता है। यह ठीक हो या नहीं, पर इसमें संदेह नहीं कि ऋग्वेद के समय में अनेक कबीले थे। जन (कबीला) को पितृसत्तात्मक संबंधों पर आधारित सबसे बड़ी इकाई माना जा सकता है। जब ऐसा जन किसी भूभाग पर बस गया तो उसे जनपद कहा जाने लगा जो वैदिकोत्तर

काल में सबसे बड़ी क्षेत्रीय इकाई के रूप में उमड़कर आया। जो जन से संबद्ध नहीं होते थे, उन्हें वैदिक काल में जन्य कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम निम्न श्रेणी की इकाई थी जो गृह्यों में बंटी हुई थी। गृह्य सबसे छोटी और निचली इकाई थी, पर इससे विशाल परिवार का बोध होता था जिसमें चार पीढ़ियों के सदस्य सम्मिलित होते थे।[9] कभी कभी इसे विदथ से एकाकार माना जाता है।[10] ऋग्वेद काल में लोग प्रथमतः जनजाति पर आधारित इकाई के प्रति निष्ठावान् होते थे जिसका नेतृत्व विभिन्न कोटि के सरदार करते थे। 'वैदिक इंडेक्स' के लेखकों की यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ऋग्वेद के काल में जाति-व्यवस्था विकास की ओर अग्रसर थी।[11] वर्ण अथवा जाति-व्यवस्था जब बनी तो पुरोहित एवं कुलीन योद्धा उत्पादन के संचालक बने, पैदावार का काफी हिस्सा वसूल करने लगे और उसे अपने ढंग से बांटने लगे। कृषकों, कारीगरों, तथा कृषि-मजदूरों जैसे निम्नतर वर्गों को उत्पादन में लगाया गया। ऋग्वेद के संबद्ध संदर्भों से ऐसे सामाजिक वर्गीकरण का पता नहीं चलता है। वसिष्ठ एवं विश्वामित्र जैसे पुरोहितों ने युद्धों में अपने संरक्षकों का मनोबल बढ़ाया था। किंतु ऋग्वेद में ब्राह्मण की चर्चा केवल चौदह बार हुई है।[12] कुछ पुरोहितों को उनके आश्रयदाता पशुधन तथा दासियां भी प्रदान करते थें। किंतु न तो कबीले के सरदार और न तो उस समाज के पुरोहित वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कर, भेंट, दक्षिणा तथा अन्य सुविधाएं पाने का दावा करते थे। न ही उन्हें भूमि अथवा चरागाह दिए जाते थे।

क्षत्रिय शब्द की चर्चा ऋग्वेद में नौ बार मिलती है।[13] अपने कबीले अथवा वंश के लोगों का नेतृत्व करने वाले सिपाही सरदार राजन् या राजा कहलाते थे। बहुत आरंभ में सरदार अथवा राजाओं का चुनाव जनजाति के लोग समिति में एकत्रित होकर करते थे।[14] अतः उन्हें जनस्य गोप कहा जाता था। उन्हें कर नहीं अपितु बलि (स्वैच्छिक भेंट इत्यादि) प्राप्त होती थी जिससे उनके पास आय का निश्चित और नियमित साधन नहीं था। उनके पास पेशेवर फौज नहीं थी, जरूरत पड़ने पर कबीले के लोगों को इकट्ठा किया जाता था। संभवतः युद्ध में भाग लेने वाले कबीले के सदस्यों को लूट के माल का समान हिस्सा मिलता था; सरदार को शायद बड़ा हिस्सा मिलता था। होमर के यूनान में भी सरदार को विशेष भाग मिलता था,[15] किंतु यह हिस्सा उसके कबीले के लोगों की राय और मर्जी से मिलता था। स्पष्ट है कि यह विशेष भाग उसे उसके पराक्रम तथा मन और बुद्धि के गुणों के सम्मान-स्वरूप दिया जाता था। वैदिकोत्तर काल में राजा को सर्वोत्तम गज एवं सर्वोत्तम अश्व देने की प्रथा जनजातीय समाज की उस प्रथा का अवशेष है जिसके अनुसार समुदाय की ओर से सर्वोत्तम वस्तु को सरदार को भेंट चढ़ाई जाती थी।

ऋग्वेदकालीन अर्थव्यवस्था में अन्न उत्पादन की व्यवस्था कमजोर थी। पशुपालन कृषि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः पशुधन का ही वितरण

सबसे अधिक होता था। लगता है कि पशुओं का स्वामित्व सामूहिक तथा निजी दोनों ही प्रकार का होता था। समूह (परिषद) के गोधन के स्वामित्व की बात सुनने में आती है।[16] किंतु कबीले का सरदार अधिक पशुधन का स्वामी होता था। ऋग्वेद के दानस्तुति अध्याय को प्रमाण माना जाए तो अनेक पुरोहित भी प्रभूत पशुधन से संपन्न होते थे।[17] उन्हें गौएं, दासियां एवं अन्य वस्तुएं प्रदान की जाती थीं। ऐसे धनी लोगों का वर्णन मिलता है जिनके पास रथ होते थे तथा जो विदथ में भाग लेते थे।[18] संभवतः वे कबीलाई सरदार के अंतरंग मित्र अथवा उसके सगे-संबंधी थे जो उसके कबीले के सामान्य सदस्यों से कुछ भिन्न होते थे। अर्थव्यवस्था में अन्न उत्पादन का प्राधान्य नहीं होने के कारण केवल गौओं और लूट के माल के वितरण के कारण अधिक सामाजिक असमानता पैदा नहीं हो सकती थी। सरदारों एवं पुरोहितों को विशेष स्थान मिल रहा था किंतु ऋग्वेद में इनके विशेषाधिकारों का न तो वर्णन है न ही उनकी स्थापना।

गृहपति के पास ऐसे संसाधन नहीं थे जो उसके परिवार के सदस्यों के श्रम से परे हों। ऋग्वेद में मजदूरी अथवा चेतना अर्जन के लिए कोई शब्द नहीं मिलता। न ही उसमें भिखारी के लिए कोई शब्द है। वेतन-अर्जन की प्रथा तब शुरू होती है जब कोई परिवार बलपूर्वक अथवा अन्य साधनों से इतनी भूमि हथिया ले कि उसकी देखभाल वह अपने श्रम से नहीं कर सके। इसी प्रकार वेतनभोगी मजदूर और भिखारी तब उत्पन्न होते हैं जब वर्ग विभेद के कारण लोग निर्धन और साधनहीन हो जाते हैं। ऋग्वेद काल में ऐसी स्थिति नहीं मिलती। असमान भागों के कारण ऋग्वेद कालीन समाज समतावादी नहीं था। किंतु इस पशुचारी कबीलाई समाज में अतिरिक्त पैदावार के अभाव ने वर्ग-विभेद उत्पन्न नहीं होने दिया। विभिन्न दरजे के लोग अवश्य दिखाई पड़ते हैं। कबीले के सरदारों को जनस्यगोप, विश्पति, विशाम्पति, गणस्यराजा, गणानां गणपति, ग्रामणी तथा संभवतः गृहपति कहा गया है।[19] लूट में अधिक हिस्सा मिलने पर भी वे अपने सगे-संबंधियों के श्रम पर नहीं जीते थे; कम से कम ऋग्वेद के आरंभिक अंश तो ऐसा ही दर्शाते हैं। विश् के साधारण सदस्य पशुपालक तथा योद्धा होते थे जो पुरोहितों एवं कुलीन योद्धाओं के भरण-पोषण के साधन जुटाते थे, जैसा कि ऋग्वेद के बाद वाले भागों से संकेत मिलते हैं। कर्मकांडवादी और वैचारिक दृष्टि से ऋग्वेद के दसवें मंडल में इस व्यवस्था का औचित्य मिलता है। इसी स्थल पर प्रथम एवं अंतिम बार शूद्र तथा वैश्य की चर्चा की गई है।[20] यह स्पष्ट है कि संगठित समुदाय के प्रमुख के रूप में राजा पर वर्णविभाजित समाज की सुरक्षा का दायित्व नहीं था, क्योंकि तब तक ऐसा विभाजन उभरकर नहीं आया था। Chiefdoms

ऋग्वेद काल में प्रभुता का जो स्वरूप है उसे कबीलाई सरदारतंत्र कहा जा सकता है पर कबीलों के सरदार राजन् कहलाते थे। राजन् का अर्थ है—चमकने

वाला—अनुमानतः अपने गुणों के कारण। ऋग्वेद[21] तथा बाद की अन्य वैदिक रचनाओं[22] में राजा के चुनाव के संदर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी व्यक्ति को प्रमुख का पद अपने शारीरिक एवं अन्य गुणों[23] के कारण मिलता था। आरंभिक चरण में राजा के चुनाव के लिए ये गुण अधिक महत्वपूर्ण मालूम पड़ते हैं। कभी-कभी किसी परिवार में प्रमुख का पद तीन पीढ़ियों तक चलता था, फिर भी राजा बहुत मजबूत नहीं हो सकता था क्योंकि उसके पास न तो नियमित सेना होती थी न ही कर की कोई प्रणाली थी। प्रशासनिक कार्यों में लगे हुए अधिकारियों की संख्या छः से अधिक नहीं होती थी। क्षेत्रीयता का विचार भी, जो कि प्रायः कृषक-बस्तियों से संबद्ध माना जाता है, ऋग्वेद में प्रबल नहीं है।[24] इन सब बातों को देखते हुए ऋग्वेद कालीन प्रभुता की संरचना को राज्य नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक सरदारी कहा जा सकता है जो लूटमार करने एवं पशुपालन करने वाले झुंड के प्रमुख पद से कहीं अधिक विकसित था। अतः कबीले की सरदारी को राज्य-निर्माण का दूसरा चरण माना जा सकता है।